

# भारत में जी.एम. फसलें और विज्ञान की राजनीति

विजय बहादुर

शुआट्स प्रयागराज

पत्राचारकर्ता : vijaybahadur2007@gmail.com

## प्रस्तावना

पिछले दिनों आनुवंशिक रूप से परिवर्तित यानी जीएम फसलों के मुद्दे पर उच्चतम न्यायालय द्वारा गठित तकनीकी समिति की रिपोर्ट आने के बाद देश का वैज्ञानिक समुदाय जिस तरह आंदोलित हुआ उसे देख कर हैरानी होती है। कृषि अनुसंधान संस्थान के वरिष्ठ वैज्ञानिकों और जैव तकनीक, वन और पर्यावरण मंत्रालय के तकनीकशाहों ने रिपोर्ट आने के बाद एक घोषणापत्र जारी करते हुए प्रधानमंत्री से गुहार लगाई कि सरकार को इस मसले पर और वक्त जाया नहीं करना चाहिए और जीएम फसलों के व्यावसायिक उत्पादन को तुरंत अनुमति दी जानी चाहिए। जबकि तकनीकी समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि जीएम फसलों के परीक्षणों पर दस सालों के लिए प्रतिबंध लगा देना चाहिए और इस अवधि में इस बात का आकलन-अध्ययन किया जाना चाहिए कि इन फसलों के चलन का लोगों के स्वास्थ्य और प्रकृति पर क्या असर पड़ेगा। वैज्ञानिक समुदाय तकनीकी समिति की रपट पर यह सवाल भी उठा रहा है कि वह कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं है। उनके अनुसार कृषि की शोध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री से यह बात साबित हो चुकी है कि जीएम फसलों से न केवल पैदावार में बढ़ोतरी हुई, बल्कि कीटनाशकों के उपयोग में भी कमी आई है।

इस विवाद की एक दिलचस्प बात यह है कि न्यायालय की तकनीकी समिति जिस बीटी कपास को किसानों की तबाही का कारण मानती है उसके बारे में इन वैज्ञानिकों ने कसीदे पढ़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। वैज्ञानिकों का घोषणा-पत्र कहता है कि मिट्टी और पानी जैसे संसाधनों की सीमाओं को देखते हुए भविष्य का खाद्य संकट बीटी कपास जैसी तकनीक के सहरे ही हल किया जा सकता है। पक्ष-विपक्ष की इस लामबंदी में उच्चतम न्यायालय की खंडपीठ के इस वक्तव्य से यह मुद्दा और जटिल हो गया है कि मसले से जुड़े हर पक्षकार की बात सुने बिना वह कोई फैसला नहीं करेगी। खंडपीठ की नजर में जिन्हें पक्षकार माना जा रहा है उनमें जीएम फसलों का

कृषि उद्यान दर्पण

शोध और व्यापार करने वाली कंपनियां भी शामिल हैं। इसलिए उसने सात नवंबर को कंपनियों के समर्थन करने वाले संगठन को भी अपना पक्ष रखने का मौका दिया है। यह झूँकी है कि कंपनियों को पक्षकार मानने का मतलब उनका पक्ष-पोषण करना नहीं है और इस मामले में हमें किसी भी पूर्वग्रह से बचना चाहिए, लेकिन उदारीकरण के दो दशकों का औसत अनुभव यह रहा है कि पूँजी और जनकल्याण के बीच जब भी कोई विवाद खड़ा हुआ है तो जीत पूँजी की ही हुई है। बहरहाल, जीएम फसलों के पक्ष-विपक्ष में दिए जा रहे इन तर्कों के बाद कम से कम यह तो साफ हो गया है कि यह मसला विज्ञान और तकनीक का नहीं, बल्कि राजनीतिक है। कंपनियों की मार्फत पूँजी के हित-साधन में लगे पैरोकार जब यह कहते हैं कि जीएम फसलों पर रोक लगाने का आग्रह विज्ञान का अपमान है तो दरअसल वे भी राजनीति ही कर रहे हैं। विज्ञान की इस राजनीति का अगर कोई उल्लेखनीय पहलू है तो यही कि वैज्ञानिक सामाजिक कल्याण और सरोकारों की भाषा बोल रहे हैं। जबकि आमतौर पर समाज की चिंता करने वाले समूह जीएम फसलों की असामाजिकता, सीमित उपयोगिता और उसके दूरगामी नुकसान पर अपना नजरिया और आपत्ति काफी पहले स्पष्ट कर चुके हैं। याद करें कि इस संदर्भ में संसदीय समिति पहले ही अपनी आशंकाएं जाहिर कर चुकी है। समिति के एक वरिष्ठ सदस्य ने कुछ अरसा पहले तर्क दिया था कि भारत में बीटी-कपास का अनुभव किसानों की बेहतरी के लिहाज से कोई उम्मीद नहीं जगाता, क्योंकि बीटी कपास के वर्चस्व के चलते एक तरफ कपास की पारंपरिक किस्में चलन से बाहर होती जा रही हैं तो दूसरी ओर किसान कर्ज के अंतहीन जाल में फँसते गए हैं। बीटी-कपास के दशक भर लंबे अनुभव का सार यह है कि उसकी खेती के लिए किसानों को ज्यादा पूँजी की जरूरत पड़ती है।

हाल ही में हैदराबाद में आयोजित जैव-विविधता के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के दौरान जब कई विशेषज्ञ खुद जीएम तकनीक के प्रभाव का जायजा लेने आंध्रप्रदेश के एक गांव में

पहुंचे तो उनकी खुशफहमी को थोड़ा-सा झटका जरूर लगा होगा। वहां पहुंचे वैज्ञानिक और बीज कंपनियों के प्रतिनिधि बहुत उत्साह के साथ बता रहे थे कि बीटी-कपास को अपनाने से न केवल पैदावार में इजाफा हुआ, बल्कि किसानों को कीटों से भी मुक्ति मिली है। इसके बाद जब खुद किसानों से पूछा गया कि कपास की इस किस्म को लेकर उनका अपना अनुभव क्या है तो सच्चाई उतनी इकहरी नहीं निकली। किसानों ने बताया कि कपास के कीटों और पैदावार की बात तो छाँक है, लेकिन उनकी आर्थिक स्थिति जस की तस है। किसानों का कहना था कि अब भी उनकी लागत कपास के मूल्य से ज्यादा बैठती है। पहले किसानों को एक लीटर कीटनाशक पर दो सौ रुपए खर्च करने पड़ते थे, जबकि अब यह खर्च दो से तीन हजार रुपयों के बीच बैठता है। इसलिए यहां गैरतलब बात यह है कि जब जीएम तकनीक का गुणगान किया जाता और उसके फायदे गिनाए जाते हैं तो उसका यह पहलू भुला दिया जाता है कि इसके लिए किसानों को बढ़ी हुई कीमत देनी होती है। जैव तकनीकी का व्यवसाय करने वाली कंपनियां शोध पर खर्च होने वाली रकम किसानों से ही वसूल करती हैं। इस तरह देखें तो वैज्ञानिक समुदाय जब मौजूदा विवाद को विज्ञान बनाम राजनीति का रंग देना चाहता है तो यह पहली ही नजर में दिख जाता है कि असल में जीएम तकनीक के पक्ष में माहौल बनाने की राजनीति कौन कर रहा है। दो साल पहले बीटी बैंगन को आनन-फानन में मंजूरी देने के मामले में आनुवंशिक इंजीनियरिंग से जुड़ी आकलन समिति की भूमिका संदेहास्पद मानी गई थी। तब कई गैर-सरकारी पर्यवेक्षकों के साथ संसदीय समिति के सदस्यों ने भी यह माना था कि जीएम फसलों के प्रभाव, उनके स्वास्थ्य और पर्यावरण संबंधी खतरों और उनकी लाभ-हानि के पहलुओं का आकलन करने वाली यह नियामक समिति न केवल कंपनियों के पक्ष में खड़ी हो गई थी, बल्कि एक प्रायोजक की तरह व्यवहार कर रही थी। उस समय कृषि शोध से संबंधित संसदीय समिति ने यह मांग उठाई थी कि 2009 में बीटी बैंगन के व्यावसायिक उत्पादन को दी जानी वाली मंजूरी की जांच की जानी चाहिए। समिति का मानना था कि यह मंजूरी सांठगांठ से हासिल की गई थी। बाद में आनुवंशिक इंजीनियरिंग आकलन समिति के सह-अध्यक्ष ने भी यह बात स्वीकार की थी, उन पर कंपनी और मंत्रालय की तरफ से दबाव बनाया जा रहा था। गैरतलब है कि बैंगन की इस किस्म को भारतीय कंपनी महिको ने अमेरिकी कंपनी मॉसेंटो के साथ मिल कर विकसित किया था। बाद में इस पर

सरकार ने प्रतिबंध लगा दिया था।

इसलिए आज अगर सरकार के विभागों और संस्थाओं से जुड़े वैज्ञानिक फिर जीएम फसलों की गुणवत्ता और उनकी वृहत्तर सामाजिक उपयोगिता का मुद्दा उठा रहे हैं तो उससे एकाएक आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता, और अगर इसके जरिए वे अपनी सामाजिक प्रतिबद्धताओं का मुजाहिरा कर रहे हैं तो उनकी सरोकार-प्रियता इसलिए उथली और अंततः छद्म लगती है, क्योंकि उसमें खेती के राजनीतिक अर्थशास्त्र की समझ गायब है। जीएम तकनीक का समर्थन करते हुए वे इस बात पर ध्यान नहीं दे रहे कि खेती का प्रबंधन, बीज पर होने वाला खर्च और उसकी उपलब्धता, खेती में निहित जोखिम, उसके संभावित लाभ और हानि, किसानों की लागत आदि जैसे तत्त्व वैज्ञानिक शोध से तय नहीं होते। इस तथ्य को आम आदमी भी समझता है कि ये सारे मसले बाजार और राजनीति से निर्धारित होते हैं, जिसमें किसानों की नहीं सुनी जाती। फैसले ऊपर से थोपे जाते हैं और उनका खमियाजा किसानों को उठाना पड़ता है।

एकबारगी अगर यह भी मान लिया जाए कि जीएम तकनीक से उत्पादन बढ़ेगा तो इस सवाल का उत्तर कौन देगा कि किसानों को पैदावार की बढ़त का लाभ स्वतः कैसे मिल जाएगा? क्या वैज्ञानिक समुदाय इस बात के लिए भी संगठित प्रयास करने का साहस दिखा पाएगा कि किसानों को उनकी फसलों का सही मोल मिले? क्या जीएम तकनीक का समर्थन कर रहे वैज्ञानिक इस प्रायोजित विडंबना का उत्तर दे सकते हैं कि पारंपरिक फसलों के बंपर उत्पादन के समय में भी किसान क्यों अपनी खड़ी फसलों में आग लगा देते हैं और अपने उत्पाद सङ्क पर फेंक जाते हैं? जाहिर है कि मसला सिर्फ उत्पादन का नहीं हो सकता। असल में पूरी स्थिति का मर्म यह है कि किसान को उसकी मेहनत और लागत का फल कौन देगा। लिहाजा, अगर वैज्ञानिक यह कह रहे हैं कि जीएम फसलों से किसानों का भला होगा तो यह एक सतही और भ्रामक तर्क है। इसलिए पिछले दिनों जब उच्चतम न्यायालय की तकनीकी समिति की अनुशंसाओं के खिलाफ वैज्ञानिकों ने यह कहा कि समिति की राय से विज्ञान की भूमिका और हैसियत की अवमानना होती है तो इससे कोई भी आश्वस्त नहीं हो सका। लिहाजा, वैज्ञानिक जिसे सिर्फ नई तकनीक के प्रति लोगों की कूदमगजता मान रहे हैं वह वास्तव में इस बात का प्रतिरोध है कि खेती के बुनियादी आधारों को दुरुस्त किए बिना जीएम

फसलों को खेती का तारणहार क्यों बताया जा रहा है। कहना न होगा कि जीएम फसलें अगर स्वास्थ्य और पर्यावरण के मानकों पर खरी भी उतरती हैं तो इसके बावजूद उनका औचित्य इस आधार पर तय किया जाना चाहिए कि चलन में आने के बाद उनका खेती और किसान पर दूरगामी प्रभाव क्या पड़ेगा। देश में बीटी कपास के चलन के बाद जिस तरह कपास की पारंपरिक किस्में व्यवहार से बाहर हो गई हैं उसे देखते हुए यह आशंका निराधार नहीं कही जा सकती कि जीएम तकनीक का प्रभुत्व कायम होने पर कहीं किसान अपने संचित ज्ञान से हाथ न धो बैठें और अंततः बीज कंपनियों की घेरेबंदी के शिकार हो जाएं। आम लोगों के जेहन से यह आशंका इसलिए नहीं जा पाती, क्योंकि पिछले दो दशक के दौरान जिन योजनाओं और पहलकदमियों को जनकल्याण के नाम पर लागू किया गया है वे अंततः बड़े किसानों और व्यापारियों, खेती के

सहायक उपकरण बनाने वाली कंपनियों के हक में काम करने लगी हैं और औसत किसान उनके प्रस्तावित लाभों से वंचित रह गया है।

### निष्कर्ष

यहां यह याद रखना जरूरी है कि देश की मौजूदा राजनीतिक-आर्थिक प्राथमिकताओं में किसान को सबसे नीचे रखा गया है और खेती के पक्षकारों का बहुस्तरीय जाल किसी भी लाभकारी नीति को उस तक पहुंचने से पहले ही हड्डप लेता है। इसलिए मौजूदा विवाद में अगर वैज्ञानिकों के नजरिए को ही वरीयता दी जाती है तो यह विज्ञान की जीत नहीं, बल्कि व्यावसायिक स्वार्थ समूहों की जन-विरोधी राजनीति की जीत मानी जाएगी।

